



JOURNAL OF EMERGING TECHNOLOGIES AND INNOVATIVE RESEARCH (JETIR)

An International Scholarly Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

साहित्य और सिनेमा का सामाजिक संबंध

डॉ. अमित भारद्वाज

असिस्टेंट प्रोफेसर

राजकीय स्नातकोत्तर नेहरू महाविद्यालय,

झज्जर (हरियाणा)

सिनेमा और साहित्य का संबंध उतना ही पुराना है, जितना पुराना सिनेमा का इतिहास है। पूरे संसार में फिल्म निर्माता साहित्य से प्रभावित रहे हैं और उन्होंने साहित्यिक कृतियों को सेल्युलाइड के माध्यम से जनमानस तक पहुंचाने का कार्य किया है। हिंदी सिनेमा के लिए भी साहित्य पर आधारित फिल्मों का निर्माण कोई नया नहीं है। हिंदी सिनेमा हिंदी साहित्य के अतिरिक्त अंग्रेजी साहित्य से भी बहुत प्रभावित रहा है। शेक्सपियर से लेकर रस्किन बॉन्ड तक के नाटकों और उपन्यासों पर हिंदी में फिल्में बनी हैं।

साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है। इस आईने में दिखाई देने वाले समाज को सिनेमा जब अपने पर्दे पर दर्शाता है तो वह निश्चित रूप से साहित्य के संसार को विस्तृत करता है। इसलिए साहित्य जब पर्दे पर आता है तो उसका स्वरूप व्यापक हो जाता है। भारत की पहली फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' मूक फिल्म थी और पौराणिक कथा पर आधारित थी। इसके बाद दूसरी उल्लेखनीय फिल्म 'आलम आरा' हिंदी की पहली बोलती फिल्म थी और ऐतिहासिक पात्र पर बनी थी।

हिंदी सिनेमा के निर्माण में केवल हिंदी साहित्य का ही योगदान नहीं रहा है बल्कि दूसरी भाषाओं में रचित साहित्य का भी योगदान रहा है। इसमें बंगला साहित्य का प्रथम स्थान आता है। शरतचंद्र चटर्जी के उपन्यास 'देवदास' पर तीन बार हिंदी में फिल्में बन चुकी हैं। इसी प्रकार भगवती चरण वर्मा के चर्चित उपन्यास 'चित्रलेखा' पर भी इसी नाम से दो बार फिल्में बनी हैं। इनके अलावा शरत् के अन्य उपन्यास परिणीता, विराज बहू, फणीश्वर नाथ रेणु के उपन्यास तीसरी कसम, विमल मित्र के उपन्यास साहब बीवी और गुलाम, रविंद्र नाथ की कहानी काबुलीवाला, आर के नारायण के उपन्यास गाइड, राजेंद्र यादव के उपन्यास सारा आकाश, यू आर अनंतमूर्ति के उपन्यास संस्कार, मोहन राकेश के नाटक आषाढ़ का एक दिन, मन्नू भंडारी की कहानी यही सच है पर आधारित रजनीगंधा, विजय तेंदुलकर के नाटक पर आधारित घासीराम कोतवाल, प्रेमचंद की कहानी शतरंज के खिलाड़ी, मिर्जा हादी के उपन्यास उमराव जान, अमृता प्रीतम के उपन्यास पिंजर पर आधारित फिल्में बन चुकी हैं। इनके अलावा चेतन भगत के उपन्यास फाइव प्वाइंट समवन पर आधारित फिल्म श्री इडियट बन चुकी है। हिंदी के दो चर्चित साहित्यकारों उदय प्रकाश और प्रियवंद की कहानियों पर निर्मित मोहनदास और खरगोश जैसी संवेदनशील फिल्में बनी हैं। प्रेमचंद, राजेंद्र सिंह बेदी, मंटो, ख्वाजा अहमद अब्बास, भगवती चरण वर्मा, गोपाल सिंह नेपाली, फणीश्वर नाथ रेणु, शैलेंद्र, नरेंद्र शर्मा, सरस्वती कुमार दीपक और साहिर लुधियानवी जैसे हिंदी और उर्दू के मशहूर लेखक फिल्मों से जुड़े हैं।

सिनेमा बदलते यथार्थ को साहित्य से कहीं ज्यादा बेहतर ढंग से पकड़ रहा है। ऐसा नहीं है कि वह केवल सतही चित्र प्रस्तुत कर रहा हो बल्कि वह उसकी परतों में धंस रहा है। उसके भीतर की संवेदना को पकड़ रहा है और उसमें निहित विमर्श को भी प्रस्तुत कर रहा है। साहित्य पर आधारित फिल्मों में उपन्यास की गहराई देखने को मिल रही है। एक उपन्यास का बड़ा फलक, एक खास तरह की गति और उतार-चढ़ाव कई फिल्मों में दिखाई देता है। यह निश्चित रूप से बॉलीवुड की उपलब्धि है। विडंबना यह भी है कि हिंदी में कथानक की गहराई वाले उपन्यासों की कमी है। कथा साहित्य लंबे समय से एक ही ढर्रे पर चल रहा है। हिंदी सिनेमा एक तरफ बाजीराव मस्तानी की प्रासंगिकता को दर्शकों से जोड़ने की कोशिश कर रहा है तो दूसरी तरफ पान सिंह तोमर, मैरी कॉम और दशरथ मांझी जैसे चरित्रों को हमारे बीच से दूँड कर निकाल रहा है। बड़ा परिवर्तन यह आया है कि बड़े बैनरों ने साहित्यिक कृतियों पर विश्वास करना शुरू कर दिया है।

हिट मसालों वाली हंगामा तेज फिल्मों के पीछे भागने वाले बड़े निर्माताओं और अभिनेताओं को यह समझ में आ गया है कि अब बॉक्स ऑफिस का मिजाज बदल चुका है। दर्शक इतने जागरूक हो गए हैं कि उन्हें विदेशी लोकेशन पर फिल्माए गए गाने, मारधाड़ सीन, रोने-धोने के दृश्य और आइटम सॉन्ग से ही नहीं भुलाया जा सकता। ऐसे में संवेदनशील कहानी वाली स्क्रिप्ट से ही बात बन सकती है।

सिनेमा अब ग्लोबल आकार ले चुका है। इसलिए बॉलीवुड की फिल्मों पर भी अब विदेशी निर्माण कंपनियों की नजर रहती है। बॉलीवुड में अब मौलिक कहानियों और स्क्रिप्ट की आवश्यकता पड़ने लगी है। फिल्म निर्माताओं को महसूस होने लगा है कि हॉलीवुड की फिल्म कंपनियों को भारी रकम देकर उनकी फिल्मों के रीमेक अधिकार खरीदने से बेहतर है कि अपने देश की विभिन्न साहित्यिक रचनाओं को फिल्म निर्माण के लिए लिया जाए। यह सच भी है कि साहित्य में ऐसी रचनाओं की कोई कमी नहीं है, जिन पर रोचक फिल्म आसानी से नए बनाई जा सके। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि व्यक्ति भले ही साहित्य में पढ़ें लेकिन सिनेमा की भाषा अवश्य समझता है। इसलिए सिनेमा के माध्यम से साहित्य भी समाज समाज के अंतिम व्यक्ति तक पहुंचता है। आज आधुनिक युग में 500 रूपये की किताब पर 50 करोड़ की फिल्म बनती है तो केवल 30 रूपये की सीडी में आसानी से प्राप्त हो जाती है तथा आम जनता तक पहुंच जाती है। ऐसे में सिनेमा को साहित्य से अलग नहीं किया जा सकता। फिल्में भले ही पूरी तरह समाज का दर्पण नहीं हों लेकिन समाज से कटी हुई भी नहीं होती।

आज फिल्म निर्माण की तकनीक बदल गई है। साहित्य सिनेमा को गति प्रदान करता है। हमारी फिल्मों की जड़ में ही साहित्य है। केवल हिंदी ही नहीं किसी भी भारतीय भाषा की शुरुआती फिल्मों को देखें तो फिल्में साहित्य के स्तंभ पर ही खड़ी दिखेंगी। साहित्य समाज को प्रतिबिंबित करता है। साहित्य और सिनेमा में साहित्य का काफी प्रभाव है। साहित्य की शिरकत से सिनेमा की गरिमा बढ़ जाती है। प्रश्न यह है कि साहित्य और सिनेमा के संबंध और अंतर्संबंध कौन से हैं? अपने शुद्ध रूप में साहित्य जिस सामाजिक मानवीय समाज का चित्रण करता है। उसके मुकाबले सभी कलाओं के उत्कृष्ट मिश्रण से तैयार हुआ सिनेमा जिससे मानवीय समाज का चित्रण करता है। क्या दोनों के समाज का संतुलन एक है? क्या साहित्य का समाज सिनेमा के समाज में ढल कर व्यापकता पाता है या संकुचित होता है? सबसे पहले संप्रेषण का पक्ष देखें। साहित्य समाज का परिष्कार करता रहा है। इस प्रक्रिया में वह सामाजिक जिम्मेदारी निभाते हुए मानव के सुख-दुख, आशा-निराशा, हास-परिहास, उतार-चढ़ाव आदि को व्यक्त करता रहा है। साहित्य ने समस्त कलाओं में ऐसी प्रमुखता हासिल की है कि उसे मानव मन के संप्रेषण का श्रेष्ठ माध्यम कहा गया है।

साहित्य विहीन समाज को पशुवत् दर्जा दिया गया है। सिनेमा भी उसी समाज का उसी मानव मन के संप्रेषण का माध्यम बनता है। संप्रेषण की क्षमता के लिहाज से सिनेमा की व्यापकता निर्विवाद रही है लेकिन दुर्भाग्य यह है कि हिंदी में बनने वाले अधिकांश सिनेमा में अतिरंजित हिंसा शक्ति प्रदर्शन काल्पनिक स्थितियों के वर्णन और व्यावहारिक समाज का चित्रण मिलता है। इस कारण साहित्य के मुकाबले सिनेमा में वर्णित समाज वास्तविकता का विकृत रूप है। कमर्शियल सिनेमा इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। सिनेमा की सामाजिक भूमिका को समझकर और उसके संप्रेषण की क्षमता को पहचान कर उसके आरंभिक काल में ही उस पर विचार शुरू हो गए थे लेकिन सिनेमा की बनावट ही कुछ ऐसी थी कि वह तमाम आदर्शों की शोभा यात्रा के बावजूद वैसा आदर्शवादी और सामाजिक हितार्थ काम नहीं कर सका या कर पाया। यह एक बहुत बड़ा माध्यमगत फासला है। प्रश्न यह है कि साहित्य का सिनेमा बनाते समय साहित्यकार सिनेमा के व्यवसायिक पहलू को नजरअंदाज क्यों कर जाते हैं? सिनेमा सृजनात्मक होने के बावजूद अपने संसाधन में खर्चीला है। अच्छे सिनेमा के रचनाकार और साहित्य सृजन में भी सक्रिय गुलजार यह मानते हैं कि फिल्म निर्माण के बड़े खर्च को देखते हुए शुद्ध साहित्य पर शुद्ध साहित्यिक फिल्म बनाना मुश्किल काम है। साहित्य में यह समस्या सामने नहीं आती क्योंकि साहित्यिक रचना पढ़ने के शौकीन पाठक का मतलब ही है। एक संस्कार और अभिरुचि से पाठक को लगातार एक बहाव में लिए चला जा सकता है लेकिन फिल्म के निर्देशक को व्यापारिक पक्ष के मद्देनजर इस बहाव को तोड़ना पड़ता है। यही चीज साहित्यिक रुचि के दर्शक को खटक जाती है।

साहित्य कसौटी पर कसी जाने पर सिनेमा को हमेशा आलोचना का शिकार होना पड़ता है। सिनेमा के सामने यह बड़ी चुनौती है। सिनेमा बनने और वितरण प्रदर्शन तक कदम-कदम पर धन की जरूरत पड़ती है और उसके बाद ही निर्माता के पास अपनी पूंजी लौटती है। इस पूंजी के लौटने की गुंजाइश बनाने के लिए ही निर्माता-निर्देशक का प्रयास रहता है कि वह ऐसे पहलुओं को सिनेमा में शामिल करें जिनके लिए पैसा देकर दर्शक सिनेमाघर आए। अब ऐसे में सिनेमा को साहित्य से कहानी लेकर उसे अपने अनुकूल बनाना पड़ता है। यह बात साहित्य को भी समझनी होगी कि साहित्य में सिनेमा का यथारूप उपयोग नहीं हो सकता। साहित्यिक कृति जब सिनेमा के पास जाती है तो वहां एक नई रचना की आवश्यकता पड़ती है। दरअसल साहित्य का सिनेमाई रूपांतरण करते समय सिनेमा व्यवसायिक हित और साहित्यिक आदर्शवाद के बीच टकराव होता है। इसी कारण उनमें संघर्ष होता है। एक पहलू, दूसरे पहलू की जरूरतों को अनदेखा करके अपनी मौलिकता बनाए रखना चाहता है। यही कारण है कि उनमें अपनी विधा की सीमाओं का अतिक्रमण करना पड़ता है।

एक जमाने में हिंदी साहित्य में शुद्ध साहित्य की वकालत की गई थी लेकिन वह संभव नहीं हो पाया। जब शुद्ध साहित्य संभव नहीं तो शुद्ध साहित्यिक सिनेमा कैसे संभव है? यह विचारणीय है। साहित्यिक कृति के सिनेमाई रूपांतरण में इस

तथ्य को अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए। शुद्ध साहित्य पर शुद्ध सिनेमा नहीं बन सकता। यदि बनता है तो वह अनुवाद की तरह नीरस होगा। यह भी सही है कि जब शुभ या यथारूप चित्रण बेहतर नहीं माना जाता तो नितांत तकनीक आधारित शुद्ध साहित्यिक सिनेमा बनाने का आग्रह क्यों किया जाता है? फार्मूला फिल्मों की प्रशंसकों को साहित्य की संगत अच्छी नहीं लगती। यही कारण है कि साहित्यिक कृतियों पर बनी फिल्मों की तादाद बहुत कम रही है। सिनेमा सृजन का ही विस्तृत रूप है। यह केवल मनोरंजन का कार्य ही नहीं करता बल्कि हमारी सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का आईना भी है, जिसमें हम अपने समय और समाज का वास्तविक चेहरा देख पाते हैं। किसी भी कला की सार्थकता अपने उपभोक्ताओं को सौंदर्य बोध के स्तर तक उतरने में नहीं बल्कि अपने सौंदर्य बोध के अनुकूल उपभोक्ता तैयार करने में होती है। कुछ वर्ष पहले तक हिंदी फिल्मकारों का यह प्रिय जुमला था कि वे दर्शकों के लिए फिल्म बनाते हैं। वही बनाते हैं जो दर्शक देखना चाहते हैं। आज सिनेमा कुछ हद तक सही लेकिन उसे घोषित लक्ष्मण रेखा से बाहर निकल आया है। दर्शक अब यहां सिर्फ दिल बहलाने के लिए ही नहीं अपितु जिंदगी की खुली किताब पढ़ने के लिए भी आते हैं।

साहित्यिक कृतियों पर बनी फिल्मों की तादाद बहुत कम रही है। सिनेमा सृजन का ही विस्तृत रूप है। यह केवल मनोरंजन का कार्य ही नहीं करता बल्कि हमारी सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का आईना भी है जिसमें हम अपने समय और समाज का वास्तविक चेहरा देख पाते हैं।

संदर्भ:

1. इंडिया टुडे, साहित्य वार्षिकी, 1992
2. पन्ने से परदे तक, दैनिक भास्कर, 23 मई 2002
3. साहित्य की ओर लौटता सिनेमा, हरि मृदुल, भारतीय वाङ्मय, जनवरी 2010
4. हिन्दी सिनेमा: समय के साथ कदमताल, दैनिक जागरण, 12 अगस्त 2007
5. रूपहले पर्दे पर रच रहे उपन्यास, विनोद अनुपम, नवभारत टाइम्स, 25 अप्रैल 2015
6. भारत में जनसंचार, केवल जे.कुमार, जयको पब्लिकेशंस, मुम्बई

